औषध . . . भवरोग की

''मंगलम् भगवान वीरो मंगलम् गौतमोगणी।
मंगलम् कुंदकुंदार्यो जैन धर्मोस्तु मंगलम्।।''

हे भव्य!

जय जिनेन्द्र!!

चलो, आज हम कुछ ऐसा सुनते हैं जिससे हमारे वेदन में आते हुए रोग, पीड़ा, दु:ख-दर्द, आदि सबकी विस्मृति हो जाए। हमें किसी भी उदय के प्रसंग में हर्ष-शोक की वृत्ति या आकुलता न हो और राग-द्वेषरहित सच्ची शान्ति पाकर सच्चे अर्थ में अनन्त सुख की प्राप्ति हो!

अनादिकाल से चार गतिरूप संसार में घूमते-फिरते, भटकते-टकराते जीवों को कभी भी क्षणमात्र भी सुख प्राप्त नहीं हुआ। जो कुछ क्षणिक सुख लगा था, वह सुखाभास ही था और है क्योंकि उस तथाकथित सुख के बाद, क्या दु:ख फिरसे उभरकर नहीं आया?... सामान्यरूप से अनुकूलता के समय वह दु:ख ख्याल में नहीं आता, परन्तु देह में जब रोग की उत्पत्ति होती है, वृद्धावस्था आती है और इन्द्रियाँ शिथिल होने लगती हैं, मृत्यु की घड़ी नजदीक दिखायी देती है, तब देह में अत्यन्त प्रीति होने के कारण, दु:ख का कष्टजनक अनुभव होने लगता है। अभी तक कहे जानेवाले सांसारिक सुखों और दु:खों के समय, अर्थात् साता-असाता के उदय के समय, अनन्त कर्मों का उपार्जन करके हम दु:खों का पहाड़ खड़ा कर देते हैं। अब इस भ्रमजालमय जगत की उपेक्षा करने का समय आया है। काल्पनिक सुखों या दु:खों की उपेक्षा करके, मुक्ति के वास्तविक अनन्त सुख में जाने की यात्रा का प्रारम्भ करने का अपूर्व अवसर आया है। आज कुछ समझ में आने योग्य क्षमता प्रगट हुई है। तो फिर, अब बार-बार आनेवाले इन दु:खों के आवागमन और भुगतान को रोककर, कुछ ऐसा अपूर्व कार्य कर लें, जिससे दु:खों का आत्यन्तिक नाश हो और अनन्त काल तक मात्र सुख का ही अनुभव होता रहे!

जिन्हें निरन्तर आत्मा की ही वृत्ति और प्रतीति थी, सबके अनुभव में आवे ऐसा जिनका कथन है, ऐसे अध्यात्म योगीश्वर **परम कृपालु श्रीमद् राजचन्द्रदेव** लगभग 115 वर्ष पूर्व गुजरात की पावन धरती पर हुए हैं। ऐसे **'परम कृपालुदेव'** के विषय में क्या कहेना ? शब्द अत्यन्त कम पड़ते हैं। वाणी मौन हो जाती है। ये अनुपम सन्त शिरोमणि, सम्यग्दृष्टि, ज्ञानी-ध्यानी, एकावतारी और शासननायक चरम तीर्थंकर **श्री महावीरस्वामी भगवान** की परम्परा के धर्मरत्न हैं। **परम कृपालुदेव** के आत्मलक्षी विचारों से समृद्ध विपुल साहित्य में से, विविध विषयों को स्पर्श करते हुए, अमृततुल्य वचनामृतों को चुनकर यह C.D. बनायी गयी है। जिसे प्रस्तुत करते हुए **श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट, मुम्बई,** अति हर्ष और उल्लास का अनुभव करता है। इस प्रकल्प में लेखनकार राजू दवे, अनुवादक पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन बिजौलिया, संगीतकार सुरेश जोशी और प्रवक्ता सनत व्यास तथा धर्मेन्द्र गोहिल का सहयोग प्राप्त हुआ है।

मुमुक्षुजनों को दुःख मिटाने का रामबाण इलाज बतलाते हुए **श्रीमद् परम कृपालुदेव** प्रकाशित करते हैं....

'जो स्वरूप समझे बिना, पाये दुःख अनन्त,
समझाया वह पद नमूँ, श्री सद्गुरु भगवन्त।'

यथार्थ देखें तो शरीर ही वेदना की मूर्ति है। समय-समय पर जीव उसके द्वारा वेदना का ही अनुभव करता है। क्वचित् साता और प्रायः असाता का ही वेदन करता है। मानसिक असाता की मुख्यता होने पर भी वह सूक्ष्म सम्यग्दृष्टिवान को मालूम होती है। शारीरिक असाता की मुख्यता स्थूल दृष्टिवान को भी मालूम होती है। जो वेदना पूर्वकाल में सुदृढ़ बन्ध से जीव ने बाँधी है, वह वेदना का उदय सम्प्राप्त होने पर

इन्द्र, नरेन्द्र, नागेन्द्र या जिनेन्द्र भी उसे रोकने को समर्थ नहीं है। उसके उदय का जीव को वेदन करना ही पड़ता है। अज्ञानदृष्टि जीव खेद से वेदन करें तो भी वह वेदना कुछ कम नहीं होती या चली नहीं जाती। सत्य दृष्टिवान जीव शान्तभाव से वेदन करें तो उससे वह वेदना बढ़ नहीं जाती, परन्तु नवीन बन्ध का हेतु नहीं होती बल्कि पूर्व की बलवान निर्जरा होती है। आत्मार्थी को यही कर्तव्य है।

'मैं शरीर नहीं हूँ, परन्तु उससे भिन्न ज्ञायक आत्मा हूँ, और नित्य शाश्वत हूँ। यह वेदना मात्र पूर्व कर्म की है, परन्तु मेरे स्वरूप का नाश करने में समर्थ नहीं है; इसलिए मुझे खेद कर्तव्य ही नहीं है' इस तरह आत्मार्थी का अनुप्रेक्षण होता है।

(...पत्रांक 927)

समस्त संसारी जीव कर्मवशात् साता-असाता के उदय का अनुभव किया ही करते हैं। जिसमें मुख्यतः तो असाता के उदय का ही अनुभव होता है। कभी कभी अथवा किसी देह संयोग में साता का उदय अधिक अनुभव में आता हुआ दिखायी देता है, परन्तु वस्तुतः वहाँ भी अन्तर्दाह जलता ही रहता है। पूर्ण ज्ञानी को भी जिस असाता का वर्णन कर सकने योग्य वचनयोग नहीं होता, वैसी अनन्तानन्त असाता इस जीव ने भोगी है और यदि अब भी उनके कारणों का नाश न किया जाये तो उसे भोगनी पड़े, यह सुनिश्चित है-ऐसा समझकर विचारवान उत्तम पुरुष उस अन्तर्दाहरूप साता और बाह्याभ्यन्तर संक्लेशाग्निरूप असाता का आत्यन्तिक वियोग करने के मार्ग की गवेषणा करने के लिए तत्पर हुए और उस सन्मार्ग की गवेषणा करके, प्रतीति करके, उसका यथायोग्य आराधन करके, अव्याबाध सुखस्वरूप आत्मा के सहज शुद्ध स्वभावरूप परमपद में लीन हुए है।

साता-असाता का उदय अथवा अनुभव प्राप्त होने के मूल कारणों की गवेषणा करते हुए उन महान पुरुषों को ऐसी विलक्षण सानन्दाश्चर्यकारी वृत्ति उठती थी कि साता की अपेक्षा असाता का उदय प्राप्त होने पर और उसमें भी तीव्रता से उस उदय के प्राप्त होने पर उनका वीर्य विशेषरूप से जागृत होता था, उल्लसित होता था, और वह समय विशेषरूप से कल्याणकारी समझ में आता था।

कुछ कारणविशेष के योग से व्यवहारदृष्टि से ग्रहण करनेयोग्य औषध आदि आत्म-मर्यादा में रहकर ग्रहण करते थे; परन्तु मुख्यतः तो वे परम उपशम भाव की ही सर्वोत्कृष्ट औषधिरूप से उपासना करते थे। ***(...पत्रांक 913)***

जब प्रकाश के बाद अंधेरा छा जाता है, तब मनुष्य की परछाई भी उसका साथ छोड़ देती है, इसी प्रकार न चाहने पर भी पुण्यकर्म क्षय होने पर, सर्व अनुकूल सामग्री छूट जाती है। इसलिए प्रबल वेदना के उदय समय में निरुपायता होने के कारण सहनशीलता ही सुखदायक है। **श्रीमद् राजचन्द्रजी** कहते हैं कि **'तेरे दोष से तुझे बन्धन है,'** तुझे कोई बाँधनेवाला नहीं है। तू अपनी भूल से ही बँधता है। ज्ञानी के वचन अंगीकार करने पर, तू इस बन्धन से मुक्त होगा।

'जो अनित्य है, जो असार है और जो अशरणरूप है, वह इस जीव को प्रीति का कारण क्यों होता है, यह बात रात-दिन विचार करने योग्य है।'

शारीरिक वेदना को देह का धर्म जानकर और बाँधे हुए कर्मों का फल जानकर सम्यक् प्रकार से सहन करना योग्य है। बहुत बार शारीरिक वेदना प्रबल होती है, उस समय उत्तम जीवों को भी उपर्युक्त सम्यक् प्रकार स्थिर रहना कठिन होता है, तथापि हृदय में बारम्बार उस

बात का विचार करते हुए और आत्मा को नित्य, अछेद्य, अभेद्य, जन्म जरा-मरणादि धर्म से रहित भाते हुए, विचार करते हुए , उस सम्यक् प्रकार का कुछ तो निश्चय आता है। महान पुरुषों द्वारा सहन किये हुए उपसर्ग तथा परिषह के प्रसंगों का स्मरण करके, उस समय उनके रहे हुए अखण्ड निश्चय को बारम्बार अपने हृदय में स्थिर करने योग्य जानने से, जीव को वह सम्यक् परिणाम फलीभूत होता है और वेदना, उस के क्षय काल में निवृत्त होने पर, फिर वह वेदना किसी कर्म का कारण नहीं होती। शरीर में निरोगता के समय यदि जीव ने उससे अपनी भिन्नता जानकर, उसका अनित्यादि स्वरूप जानकर, उसके प्रति मोह, ममत्वादि का त्याग किया हो, तो यह महान श्रेय है; तथापि ऐसा न हुआ हो तो किसी भी व्याधि के उत्पन्न होने पर, वैसी भेदज्ञान की भावना भाते हुए जीव को प्रायः निश्चल तीव्र कर्मबन्धन नहीं होता; और महाव्याधि के उत्पत्ति काल में तो जीव, देह के ममत्व का त्याग करके ज्ञानी पुरुष के मार्ग की विचारणा के अनुसार आचरण करे, यही सम्यक् उपाय है। यद्यपि देह का ऐसा ममत्व त्याग करना अथवा कम करना, यह महादुष्कर बात है, तथापि जिसका वैसा करने का निश्चय है, वह कभी-न-कभी अवश्य फलीभूत होता है।

जब तक जीव को देहादि से आत्मकल्याण का साधन करना बाकी रहा है, तब तक उस देह में अपारिणामिक ऐसी ममता का सेवन करना योग्य है; अर्थात् यदि इस देह का कोई उपचार करना पड़े तो वह उपचार देह की ममता से नहीं, परन्तु उस देह से ज्ञानी पुरुष के मार्ग का आराधन हो सकता है, इसलिए उस देह के निमित्त से होने वाले लाभ के लिए उस देह की व्याधि का उपचार करने में बाधा नहीं है। जो कुछ वह ममता है, वह अपारिणामिक ममता है, इसलिए परिणाम में

समतास्वरूप है; परन्तु उस देह के प्रति राग का तथा वह, सांसारिक साधनों में प्रधान भोग का हेतु है, उस बात का त्याग करना पड़ता है। ऐसे आर्तध्यान से किसी भी प्रकार से उस देह में बुद्धि न करना, ऐसी ज्ञानीपुरुष के मार्ग की शिक्षा जानकर वैसे प्रसंग में आत्मकल्याण का लक्ष्य रखना ही योग्य है।

सर्व प्रकार से ज्ञानी की शरण में बुद्धि रखकर निर्भय और शोकरहित होने की शिक्षा श्री तीर्थंकर देव ने दी है और हम भी यही कहते हैं। किसी भी कारण से इस संसार में दुखी होना योग्य नहीं है। अविचार और अज्ञान ये सर्व क्लेश के, मोह के और अशुभ गति के कारण हैं। सद्विचार और आत्मज्ञान आत्मगति के कारण हैं।

उसका प्रथम साक्षात् उपाय, ज्ञानी पुरुष की आज्ञा का विचार करना-यही प्रतीत होता है। ***(...पत्रांक 460)***

परम कृपालुदेव कहते हैं कि '**देह की जितनी चिन्ता करता है, उससे अनन्तगुनी चिन्ता आत्मा की कर, क्योंकि हे जीव! अनन्त भव, एक भव में छेदना है।**' सचमुच, मेरा आत्मा जो आनन्दस्वरूप और नित्य है, उसका क्या कभी भी नाश हो सकता है ? कैसा सुन्दर है, मेरा अविनाशी आत्मस्वरूप!! '**एक भव के थोड़े सुख के लिए अनन्त भव का अनन्त दुःख नहीं बढ़ाने का प्रयत्न सत्पुरुष करते हैं।**'

''है देहादि से भिन्न आतमा रे,
उपयोगी सदा अविनाश रे
मूल मारग सुनिये जिन का रे,
ऐसा जाने सद्गुरु उपदेश से रे,
कहा ज्ञान उसी का नाम खास रे,
मूल मारग सुनिये जिन का रे''

''श्रीमान् वीतराग भगवन्तों द्वारा निश्चितार्थ किया हुआ, अचिन्त्य चिन्तामणिस्वरूप, परम हितकारी, परम अद्‌भुत, सर्व दुःखों का निःसंशय आत्यन्तिक क्षय करनेवाला, परम अमृतस्वरूप ऐसा सर्वोत्कृष्ट शाश्वत धर्म जयवन्त वर्तो, त्रिकाल जयवन्त वर्तो।''

उन श्रीमान अनन्त चतुष्टय स्थित भगवान का और उस जयवन्त धर्म का आश्रय सदैव कर्तव्य है। जिनको दूसरा कोई सामर्थ्य नहीं, ऐसे अबुध एवं अशक्त मनुष्यों ने भी उस आश्रय के बल से परम सुखरुप अद्‌भुत फल को प्राप्त किया है, प्राप्त कर रहे हैं और प्राप्त करेंगे। इसलिए निश्चय और आश्रय ही कर्तव्य है, अधीर होकर खेद कर्तव्य नहीं है।

चित्त में देहादि के भय का विक्षेप करना भी योग्य नहीं है।

जो पुरुष देहादि सम्बन्धी हर्ष-विषाद नहीं करते, उन्होने पूर्ण द्वादशांग को संक्षेप में समझा हैं, ऐसा समझें। यही दृष्टि कर्तव्य है।

'मैंने धर्म नहीं पाया', 'मैं धर्म कैसे पाऊँगा?' इत्यादि खेद न करते हुए वीतराग पुरुषों का धर्म अर्थात् देहादि सम्बन्धी हर्ष-विषादवृत्ति दूर करके 'आत्मा असंग-शुद्ध-चैतन्य-स्वरूप है' ऐसी वृत्ति का निश्चय और आश्रय ग्रहण करके, उस वृत्ति का ही बल रखना और जहाँ वृत्ति मन्द हो जाये, वहाँ वीतराग पुरुषों की दशा का स्मरण करना, उनके अद्‌भुत चरित्र पर दृष्टि प्रेरित करके वृत्ति को अप्रमत्त करना, यह सुगम और सर्वोत्कृष्ट उपकारक तथा कल्याणस्वरूप है। *(...पत्रांक 843)*

दुःख की निवृत्ति सभी जीव चाहते हैं, और दुःख की निवृत्ति होना जिनसे दुःख उत्पन्न होता है ऐसे राग-द्वेष और अज्ञान आदि दोषों की निवृत्ति हुए बिना, सम्भव नहीं है। इन राग आदि की निवृत्ति एक

आत्मज्ञान के सिवाय दूसरे किसी प्रकार से भूतकाल में हुई नहीं है, वर्तमान काल में होती नहीं है और भविष्य काल में हो नहीं सकती- ऐसा सर्व ज्ञानीपुरुषों को भासित हुआ है। इसलिए आत्मज्ञान ही जीव के लिए प्रयोजनरूप है। उसका सर्वश्रेष्ठ उपाय सद्गुरुवचन का श्रवण करना या सत्शास्त्र का विचार करना है। जो कोई जीव दुःख की निवृत्ति चाहता हो, जिसे दुःख से सर्वथा मुक्ति प्राप्त करनी हो, उसे एक यही मार्ग की आराधना किये बिना अन्य दूसरा कोई उपाय नहीं है। इसलिए जीव को सर्व प्रकार के मतमतान्तर से, कुलधर्म से, लोकसंज्ञारूप धर्म से और ओघसंज्ञारूप धर्म से उदासीन होकर, एक आत्मविचार कर्तव्यरूप धर्म की उपासना करने योग्य है।

एक बड़ी निश्चय की बात तो मुमुक्षु जीव को यही करनी योग्य है कि सत्संग जैसा कल्याण का दूसरा कोई बलवान कारण नहीं है और उस सत्संग में निरन्तर प्रतिसमय निवास चाहना, असत्संग का प्रतिक्षण दुष्परिणाम विचारना, यह श्रेयरूप है। बहुत-बहुत प्रयत्न करके यह बात अनुभव में लाने जैसी है। ***(...पत्रांक 375)***

अनादि काल के परिभ्रमण में अनन्त बार शास्त्र श्रवण, अनन्त बार विद्याभ्यास, अनन्त बार जिनदीक्षा और अनन्त बार आचार्यपद प्राप्त हुआ है। मात्र 'सत्' मिला नहीं, 'सत्' सुना नहीं, और 'सत्' की श्रद्धा की नहीं, और इसके मिलने, सुनने और श्रद्धा करने पर ही मुक्ति की गूँज आत्मा में से उठेगी। ***(...पत्रांक 166)***

परम कृपालुदेव ने समझाया, तद अनुसार ऐसे उत्तम संयोगों में, मुझे इस प्राप्त मनुष्य भव में अभी से ही शरीर से पृथकता, भिन्नता का अनुभव क्या नहीं कर लेना चाहिए ?

अन्तर की गहराई में से हकार आता है कि हाँ! देह में निर्बुद्धि करने से

ही निर्भय, निःखेद होंगे; अन्य किसी उपाय से नहीं। औषधादिक उपचार भूमिकानुसार सहज हुआ करे, परन्तु वे ममता भाव से होवें ही नहीं, क्योंकि चारों गति में स्वरूप प्राप्ति हो सकती है, फिर भी दुःख से सर्वथा मुक्ति पाकर निर्वाण प्राप्त करने का पुरुषार्थ, दुर्लभ ऐसे एक मात्र मनुष्यभव में ही होता है। अच्छा-बुरा, शुभ-अशुभ, पुण्य-पाप से पार, ऐसी पूर्ण दशा में पहुँचने के लिए मात्र मनुष्य देह ही निमित्त सिद्ध हुआ है, ऐसा ज्ञानी कहते हैं और यही परमसत्य है। मनुष्य देह में सत्देव, सत्गुरु और सत्धर्म के निमित्त, सुविचारणा की स्फुरणा और हिताहित का विवेक करने की शक्ति, संयोग, अवकाश और विवेक प्राप्त होता है। **''चक्रवर्ती की समस्त सम्पत्ति की अपेक्षा भी जिसका एक समयमात्र भी विशेष मूल्यवान है, ऐसा यह मनुष्य देह और परमार्थ के अनुकूल ऐसे योग सम्प्राप्त होने पर भी, यदि जन्म-मरण से रहित ऐसे परम पद का ध्यान नहीं रहा, तो इस मनुष्यत्व में अधिष्ठित ऐसे इस आत्मा को अनन्त बार धिक्कार हो!''**

अगाध समुद्र में खोये हुए मोती की भाँति, दुर्लभ मनुष्य भव में भी अति दुर्लभ ऐसा जैनधर्म, आर्यक्षेत्र, उत्तम कुल, दीर्घ आयुष्य, पाँच इन्द्रिय सम्पन्न पर्याप्त आजीविका और शिखर पर कलश की भाँति सच्चे देव-शास्त्र-गुरु तो परम सौभाग्य से ही मिलते हैं, जो हमें अभी भी प्राप्त है।

परन्तु विचारना यह है कि ऐसे दुर्लभ... अति दुर्लभ मनुष्य देह मिलने के पश्चात् हमने किया क्या ?

''बहु पुण्य-पुंज प्रसंग से, शुभ देह मानव का मिला।
तो भी अरे! भव चक्र का, फेरा न एक कभी टला॥
सुख प्राप्ति हेतु प्रयत्न करते, सुख जाता दूर है।
फिर क्यूं भयंकर भाव-मरण, प्रवाह में चकचूर है॥

लक्ष्मी बढ़ी, अधिकार भी, पर बढ़ गया क्या बोलिये।
परिवार और कुटुम्ब है क्या? वृद्धि नय पर तोलिये॥
संसार का बढ़ना अरे! नर देह की यह हार है।
नहीं एक क्षण तुझको अरे! इसका विवेक विचार है॥''

यह जीव, अहंकार और राग-द्वेष में मत्त होकर अनेकानेक हार माला रूप कर्म बाँधता है-ऐसा विचारकर कि यह समय कभी भी बदलेगा नहीं! पाँच इन्द्रियों के विषयों में अन्धा होकर, भान भूलकर, मार्ग चूककर, मनुष्य अवतार बर्बाद कर देता है। संसार के सम्बन्ध सम्हालनेमें, सबको प्रसन्न रखने के लिए क्या कुछ नहीं किया? सबकी आवश्यकताओं और अपेक्षाओं को सन्तुष्ट करने के लिए कोल्हू के बैल की भाँति काम किया; ये सुविधाएँ-व्यवस्थाएँ कायम रहें, उसके दावपेच और प्रपंचों में कर्मों के कितने पोटले बाँधे? जिद करके आप्तजनों के सामने सफलता के जयघोष बारम्बार गा-गा करके आनन्द लिया, वह कर्मों का हिसाब कैसे पूरा होगा?

श्रीमद्‌जी ने सत्य ही कहा है **'जगत में मान नहीं होता तो यहीं पर मोक्ष होता।'** जो प्राप्त किया, वह तो मेरे नसीब का ही था! मैं उसके लायक ही था, ऐसा विचारकर आत्मश्लाघा में रचा-पचा रहा। **जगत को भला दिखाने के लिए अनन्त बार प्रयत्न किया, इससे भला तो हुआ नहीं, क्योंकि परिभ्रमण और परिभ्रमण के हेतु अभी भी प्रत्यक्ष दिख रहे हैं। यदि एक भव आत्मा का भला करने में व्यतीत किया जाए, तो अनन्त भव का बदला मिल जाएगा।** जीवन भर मैं दूसरों की नजर में किस प्रकार अच्छा लगूँ, इसके प्रयत्न में समय गँवाया और मेरी क्या त्रुटियाँ रह गयीं, उन्हें खोजने का अवकाश ही नहीं बचा। जब **'स्व'** की पहचान के लिए

पुरुषार्थ जागृत हुआ, तब तो शरीर साथ छोड़ने लगा। अमूल्य मानव भव खर्च हो गया। अब मनोबल चकनाचूर और शरीर कृश होते जा रहा है। जिस जिसके लिए यह सब किया, वे सब अपने-अपने जगत में ओतप्रोत हो गये। समय का चक्र तो अविरतरूप से घूमा ही करता है और पीड़ा भोगने के समय, जीव अकेला पड़कर, निरुपाय होकर, विवशता का अनुभव करता है। मेरे अहंकार और ममकार ने मेरी विवेकबुद्धि को ग्रस लिया है। अब जीवन गणित के कठिन योगफल—जोड़, बाकी, गुणाकार, भागाकार करके पीड़ा का मूल खोजने के संघर्ष का कोई अर्थ नहीं है। ऐसे निरर्थकता के घोर अन्धकार में से सम्पूर्ण सातारूप सार्थकता के उजाले की ओर गति करने चलो, हम यह सब भूलकर, बाकी बचे हुए समय का सदुपयोग कर लें! ज्ञानी पुरुषों के अपूर्व वचनों को श्रवण करने की मंगल घड़ी आयी है। जिससे अपने उल्टे प्रयत्नों का अवश्य ही अन्त आयेगा।

दुर्लभ मनुष्यदेह भी पूर्व काल में अनन्त बार प्राप्त होने पर भी कुछ भी सफलता नहीं हुई; परन्तु इस मनुष्यदेह की कृतार्थता है कि जिस मनुष्यदेह में इस जीव ने ज्ञानी पुरुष को पहचाना तथा उस महाभाग्य का आश्रय किया। जिस पुरुष के आश्रय से अनेक प्रकार के मिथ्या आग्रह आदि की मन्दता हुई, उस पुरुष के आश्रयपूर्वक यह देह छूटे- यही सार्थकता है। जन्म-जरा-मरणादि का नाश करनेवाला आत्मज्ञान जिसमें विद्यमान है, उस पुरुष का आश्रय ही जीव के जन्म-जरा-मरणादि का नाश कर सकता है; क्योंकि यही यथासम्भव उपाय है। संयोग-सम्बन्ध से इस देह के प्रति इस जीव का जो प्रारब्ध होगा, वो व्यतीत हो जाने पर इस देह का प्रसंग निवृत्त होगा। इस देह का वियोग कभी भी होना निश्चित है, परन्तु आश्रयपूर्वक देह छूटे, वही जन्म सार्थक है, कि जिस आश्रय को पाकर जीव इस भव में अथवा भविष्य में भी अल्प काल में ही स्वस्वरूप में स्थिति करे।

श्री सद्गुरु ने कहा है, ऐसे निर्ग्रंथमार्ग का सदैव आश्रय रहो।

मैं देहादिस्वरूप नहीं हूँ, और देह, स्त्री, पुत्र आदि कोई भी मेरे नहीं हैं, शुद्ध चैतन्यस्वरूप अविनाशी ऐसा मैं आत्मा हूँ, इस प्रकार आत्मभावना करते हुए राग-द्वेष का क्षय होता है। *(...पत्रांक 692)*

''छूटे देहाध्यास तो, नहि कर्ता तू कर्म।
नहि भोक्ता तू कर्म का, यही धर्म का मर्म॥
इसी धर्म से मोक्षपद, तू है मोक्ष स्वरूप।
अनन्त दर्शन-ज्ञान तू, अव्याबाध स्वरूप॥
शुद्ध बुद्ध चैतन्य-घन, स्वयं-ज्योति सुख-धाम।
और अधिक कितना कहें, कर विचार तो पाम॥''

देख!! मोक्ष का मार्ग बाहर नहीं, परन्तु अन्तर आत्मा में है, तो फिर जिसने मार्ग की प्राप्ति की है वही मार्ग को प्राप्त करायेगा। शास्त्र में मार्ग कहा है, परन्तु मर्म नहीं। मर्म तो सत्पुरुष के अन्तर आत्मा में रहा है। तो आओ! उस मर्म को जानकर आत्मकल्याण के मोती पिरो लें और जागृत होकर ज्ञानी के मार्ग का अवधारण करें।

अन्तर्ज्ञान से स्मरण करते हुए ऐसा कोई काल ज्ञात नहीं होता अथवा स्मृति में नहीं आता कि जिस काल में, जिस समय में इस जीव ने परिभ्रमण न किया हो, संकल्प-विकल्प की रटन न की हो और इस कारण 'समाधि' को न भूला हो। निरन्तर यह स्मरण रहा करता है और यह महावैराग्य को जन्म देता है।

फिर से स्मरण होता है कि केवल स्वच्छन्दता से परिभ्रमण करते हुए जीव को उदासीनता क्यों न आयी? दूसरे जीवों के प्रति क्रोध करते हुए, मान करते हुए, माया करते हुए, लोभ करते हुए या अन्यथा करते हुए, यह बुरा है, ऐसा यथायोग्य क्यों न जाना? अर्थात् ऐसा

जानना चाहिए था, फिर भी न जाना; यह भी पुनः परिभ्रमण करने के प्रति वैराग्य जगाता है।

फिर से स्मरण होता है कि जिनके बिना एक पल भी मैं जी नहीं सकता, ऐसे कितने ही पदार्थ (स्त्री आदि) को अनन्त बार त्यागा, उनका वियोग हुए अनन्त काल भी हो गया; तथापि उनके बिना जीवित रहा गया, यह कुछ कम आश्चर्यकारक नहीं है। अर्थात् जब-जब वैसा प्रीतिभाव किया था, तब-तब वह कल्पित था। ऐसा प्रीतिभाव क्यों हुआ? यह विचार पुनः-पुनः वैराग्य बढ़ाता है।

फिर से जिसका मुख किसी भी काल में न देखूँ, जिसे मैं किसी काल में ग्रहण ही न करूँ, उसके घर पुत्र के रूप में, स्त्री के रूप में, दास के रूप में, दासी के रूप में, छोटे जन्तु के रूप में क्यों जन्म लिया? अर्थात् ऐसे द्वेष से उस रूप में जन्म लेना पड़ा और वैसा करने की इच्छा तो न थी। कहिये, यह स्मरण होने पर इस दुःखी आत्मा के प्रति जुगुप्सा नहीं आती होगी? अर्थात् आती है।

अधिक क्या कहना? जो-जो पूर्व के भवान्तर में भ्रान्तिरूप से भ्रमण किया, उसका स्मरण होने पर अब कैसे जीना, यह चिन्तना हो पड़ी है। फिरसे जन्म लेना ही नहीं और फिर ऐसा करना ही नहीं, ऐसी दृढ़ता आत्मा में प्रकाशित होती है। परन्तु कुछ निरुपायता शेष है वहाँ क्या करना? जो दृढ़ता है, उसे पूर्ण करना, अवश्य पूर्ण करना यही रटन है; परन्तु जो कुछ अड़चन आती है, उसे एक ओर करना पड़ता है, अर्थात् खिसकाना पड़ता है; और उसमें काल व्यतीत होता है, जीवन चला जाता है। जब तक यथायोग्य जय न हो, तब तक उसे न जाने देना, ऐसी दृढ़ता है, उसका क्या करना? कदापि किसी तरह उसमें से कुछ करें तो वैसा स्थान कहाँ है कि जहाँ जाकर रहें? अर्थात् वैसे सन्त कहाँ हैं कि

जहाँ जाकर उस दशा में बैठकर उसका पोषण प्राप्त करें? तो फिर अब क्या करना?

''चाहे जो भी हो, चाहे जितने दुःख सहो, चाहे जितने परिषह सहन करो, चाहे जितने उपसर्ग सहन करो, चाहे जितनी व्याधियाँ सहन करो, चाहे जितनी उपाधियाँ आ पड़ो, चाहे जितनी आधियाँ आ पड़ो, चाहे तो जीवन काल एक समयमात्र हो, और दुर्निमित्त हो, परन्तु ऐसा ही करना है!

तब तक हे जीव! तेरा छूटना असम्भव है।''

इस प्रकार नेपथ्य में से उत्तर मिलता है और वह यथायोग्य लगता है।

क्षण-क्षण में पलटनेवाली स्वभाववृत्ति नहीं चाहिए। कुछ काल तक शून्य के अलावा कुछ नहीं चाहिए; वह न हो तो कुछ काल तक सन्त के अलावा कुछ नहीं चाहिए; वह न हो तो अमुक काल तक सत्संग के अलावा कुछ नहीं चाहिए; वह न हो तो आर्याचरण (आर्यपुरुषों द्वारा किये गये आचरण) के अलावा कुछ नहीं चाहिए; वह न हो तो जिनभक्ति में अति शुद्ध भाव से लीनता के अलावा कुछ नहीं चाहिए; और वह न हो तो फिर माँगने की इच्छा भी नहीं है।

समझ में आये बिना आगम अनर्थकारक हो जाते हैं। सत्संग के बिना ध्यान तरंगरूप हो जाता है। सन्त के बिना अन्त की बात का सार नहीं पाया जाता। लोकसंज्ञा से लोकाग्र नहीं पहुँचा जाता। लोकत्याग के बिना यथायोग्य वैराग्य पाना दुर्लभ है।

'यह क्या गलत है?' क्या?

परिभ्रमण किया सो किया; अब उसका प्रत्याख्यान लें तो ?

लिया जा सकता है। *(...पत्रांक 128)*

वास्तव में चंचल और हर क्षण बदलती ऐसी अपनी वृत्तियाँ ही क्या अपने वैराग्य का कारण नहीं बननी चाहिए ?

मैं जब, परद्रव्य में कुछ भी कर सकता ही नहीं, तो फिर अब मुझे परिभ्रमण ही नहीं करना, ऐसा दृढ़ निर्णय करके, जिनेन्द्र भक्ति में अतिशय भाव से लीन होकर, सत्संग... सत्पुरुष... सत्शास्त्र आदि साधन में ही तत्पर रहकर, आत्मस्वभाव की पहचानपूर्वक प्रतीति कर, स्वानुभव से मोक्ष के पन्थ में गमन करना चाहिए।

श्री तीर्थंकरादि ने बार-बार जीवों को उपदेश दिया है; परन्तु जीव दिग्मूढ़ रहना चाहता है, वहाँ उपाय नहीं हो सकता। पुनः पुनः ठोक-ठोककर कहा है कि एक यह जीव समझ ले तो सहज मोक्ष है, नहीं तो अनन्त उपायों से भी नहीं है और यह समझना भी कुछ विकट नहीं है, क्योंकि जीव का जो सहज स्वरूप है, वही मात्र समझना है; और वह कुछ दूसरे के स्वरूप की बात नहीं है कि कदाचित् वह छिपा ले या न बताये, कि जिससे समझ में न आवे। अपने आप से खुद का गुप्त रहना किस तरह हो सकता है ? परन्तु स्वप्नदशा में जैसे न होने योग्य, ऐसी अपनी मृत्यु को भी जीव देखता है, वैसे ही अज्ञानदशारूप स्वप्न योग में यह जीव अपने को, जो अपने नहीं हैं, ऐसे दूसरे द्रव्यों को निजरूप से मानता है; और यह मान्यता ही संसार है, यही अज्ञान है, नरकादि गति का हेतु यही है, यही जन्म है, यही मरण है, और यही देह है, देह का विकार है, यही पुत्र है, यही पिता, यही शत्रु, यही मित्रादि भाव कल्पना का हेतु है; और जहाँ इसकी निवृत्ति हुई, वहाँ सहज मोक्ष है; और इसी निवृत्ति के लिए सत्संग, सत्पुरुष आदि साधन कहे हैं; और वे साधन भी, यदि जीव अपने पुरुषार्थ को छिपाये बिना उनमें लगाये, तभी सिद्ध होते हैं। अधिक क्या कहें ? इतनी संक्षिप्त बात यदि

जीव में परिणमित हो जाए तो वह सर्व व्रत, यम, नियम, जप, यात्रा, भक्ति, शास्त्रज्ञान आदि कर चुका, इसमें कुछ संशय नहीं है।

(...पत्रांक 537)

अनेकानेक जन्म व्यतीत हो गये, परन्तु मुक्ति की दिशा इस पापी जीव ने खोजी तक नहीं। वीतराग भगवन्तों ने स्पष्ट बताया है कि समझ से ही मोक्ष प्राप्त होगा, परन्तु मैं मूढ़ समझा ही नहीं। अपने न हों, ऐसे परपदार्थों में अपनेपन की मान्यता की और ऐसी माया का साम्राज्य, चार गति के परिभ्रमण का कारण बना। उसकी निवृत्ति के लिए ही सत्संग और सत्पुरुष की शरण, यह उपाय कहा है। इसलिए अब सम्पूर्णत: पुरुषार्थ प्रगट करके, दूसरे सब संसारी निरर्थक विकल्पों को छोड़कर, मुझे मात्र सत्संग और शुद्धात्मा की ही शरण लेनी चाहिए।

जिसे मार्ग की इच्छा उत्पन्न हुई है, उसे सभी विकल्पों को छोड़के इस एक विकल्प को बारम्बार स्मरण करना आवश्यक है–

''अनन्त काल से जीव का परिभ्रमण हो रहा है, फिर भी उसकी निवृत्ति क्यों नहीं होती ? और वह क्या करने से होगी ?''

इस वाक्य में अनन्त अर्थ गर्भित हुए हैं; और इस वाक्य में कही हुई चिन्तना किये बिना, उसके लिए दृढ़ होकर तरसे बिना, मार्ग की दिशा का भी अल्प भान नहीं होता; पूर्व में हुआ नहीं, और भविष्य काल में भी नहीं होगा। हमने तो ऐसा जाना है। इसलिए आप सबको भी यही खोजना है। उसके बाद दूसरा क्या जानना; वह मालूम होता है। ***(...पत्रांक 195)***

'सत्' कुछ दूर नहीं है, परन्तु दूर लगता है, और यही जीव का मोह है।

'सत्' जो कुछ है, वह 'सत्' ही है; सरल है, सुगम है, और सर्वत्र उसकी प्राप्ति होती है; परन्तु जिसे भ्रान्तिरूप आवरणतम छाया है, उस प्राणी को उसकी प्राप्ति कैसे हो? अन्धकार के चाहे जितने भी प्रकार करें, परन्तु उनमें से कोई ऐसा प्रकार नहीं मिलेगा कि जो प्रकाशरूप हो। इसी प्रकार जिस पर आवरणतिमिर छाया हुआ है, उस प्राणी की कल्पनाओं में से कोई भी कल्पना 'सत्' भासित नहीं होती और 'सत्' के निकट होना भी सम्भव नहीं है। 'सत्' है, वह भ्रान्ति नहीं है, वह भ्रान्ति से सर्वथा व्यतिरिक्त (भिन्न) है; कल्पना से परे (दूर) है; इसलिए जिसकी सत् प्राप्त करने की दृढ़ मति हुई है, वह सबसे पहले ऐसा दृढ़ निश्चयात्मक विचार करे कि मैं स्वयं कुछ भी नहीं जानता; और फिर 'सत्' की प्राप्ति के लिए ज्ञानी की शरण में जाए तो अवश्य मार्ग की प्राप्ति होगी।

ये जो वचन लिखे हैं, वे सभी मुमुक्षुओं के लिए परम बांधवरूप हैं, परम रक्षकरूप हैं और इनका सम्यक् प्रकार से विचार करने पर ये परम पद को देनेवाले हैं। इनमें निर्ग्रन्थ-प्रवचन की समस्त द्वादशांगी, षड्दर्शन का सर्वोत्तम तत्त्व और ज्ञानी के बोध का बीज संक्षेप में कहा हैं; इसलिए बारम्बार इनका स्मरण करना, विचार करना, समझना, समझने का प्रयास करना, इनमें बाधक अन्य प्रकारों में उदासीन रहना, इन्हीं में वृत्ति का लय करना। यह आपको और किसी भी मुमुक्षु को गुप्त रीति से कहने का हमारा मन्त्र है; इसमें 'सत्' ही कहा है, यह समझने के लिए बहुत ज्यादा समय लगाना। *(...पत्रांक 211)*

शरण अर्थात् (आश्रय) और निश्चय ही कर्तव्य है। अधीरता से खेद कर्तव्य नहीं है। चित्त में देहादि के भय का विक्षेप करना भी योग्य नहीं है। अस्थिर परिणाम उपशमित करने योग्य है।

'सर्वज्ञ का धर्म सुशरण जाने, आराध्य आराध्य प्रभाव लावे; अनाथ एकांत सनाथ होगा, उसके बिना कोई चारा न होगा।'

ॐ

वीतराग भाषित परम शान्त रसमय धर्म पूर्ण सत्य है, ऐसा निश्चय रखना। जीव की अनधिकारिता के कारण तथा सत्पुरुष के योग के बिना यह समझ में नहीं आता; तो भी जीव के संसार रोग को मिटाने के लिए इसके जैसा दूसरा कोई पूर्ण हितकारी औषध नहीं है, ऐसा बारम्बार चिन्तवन करना।

यह परम तत्त्व है, इसका मुझे सदैव निश्चय रहो; यह यथार्थ स्वरूप मेरे हृदय में प्रकाश करो, और जन्म-मरणादि बन्धन से अत्यन्त निवृत्ति हो! निवृत्ति हो!!

हे जीव! इस क्लेशरूप संसार से विराम हो, विराम हो; कुछ विचार कर, प्रमाद छोड़कर जागृत हो! जागृत हो!! नहीं तो चिन्तामणिरत्न जैसा यह मनुष्यदेह निष्फल जायेगा।

हे जीव! अब तुझे सत्पुरुष की आज्ञा निश्चय से उपासने योग्य है।

(...पत्रांक 505)

दूसरा कुछ खोज मत, मात्र एक सत्पुरुष को खोजकर उसके चरणकमल में सर्वभाव अर्पण करके प्रवृत्त हो। फिर यदि मोक्ष न मिले तो मुझसे लेना।

सत्पुरुष वही है कि जिसे रात-दिन आत्मा का उपयोग है, शास्त्र में नहीं मिले, सुनने में नहीं आये, फिर भी अनुभव में आये ऐसा जिसका कथन है; अंतरंग स्पृहारहित जिसका गुप्त आचरण है; बाकी तो कुछ कहा नहीं जा सकता और ऐसे किये बिना तेरा कभी भी छुटकारा होनेवाला नहीं है, इस अनुभव-प्रवचन को प्रामाणिक मान।

एक सत्पुरुष को प्रसन्न करने में, उसकी सर्व आज्ञा का पालन करने में, उसे ही सत्य मानने में पूरी जिन्दगी बीत गई तो अधिक से अधिक पंद्रह भव में तू अवश्य मोक्ष पायेगा।

(...पत्रांक 76)

'सर्व क्लेश और सर्व दुःख से मुक्त होने का उपाय एकमात्र आत्मज्ञान ही है,' और वह प्राप्त करना ही मेरा कर्तव्य है-

''मारग साचा मिल गया, छूट गये संदेह;
होता सो तो जल गया, भिन्न किया निज देह।
समझ, पिछें सब सरल है, बिना समझ मुश्कील
ये मुश्कीली क्या कहुं? ये मुशकीली क्या कहुं?''

(हाथनोंध 1, पृष्ठ 29, -वचनामृत पृष्ठ 810)

सच्चे सन्तों के वचनों का अमूल्य लाभ कान में पड़ेगा तो भ्रमणाओं की मायाजाल नष्ट हो जाएगी। सद्गुरु के संग से, वास्तविकता की धरती पर कदम रखते हुए, मोक्ष के अंकुर फूटकर आनन्दमय आत्म आराधना का जीवन में प्रवेश होगा। तीव्र रुचि और ज्ञानी के स्वरूप की भक्ति का संगम

तुझे **पंचम गति** प्रदान करेगा। अमीरस का घूँट-घूँट पान करते हुए, गाय की भाँति जुगाली करते हुए, हृदय की गहराई से '**स्व**' की खोज पूरी होगी। अभी तक सफलता नहीं मिली, मिथ्यात्व ने भ्रमाया, उसका कारण क्या? ऐसी भूल बारम्बार क्यूं होती है? क्या सच्चे मार्ग की दृढ़ श्रद्धा नहीं हुई? अनन्त काल से मुझे मेरे बारे में मेरी ही भ्रान्ति रह गयी है, यह एक अवाच्य, अद्‌भुत, विचारणा का स्थल है। मैंने परिभ्रमण का कोई भी क्षेत्र बाकी नहीं रखा! अहो! किसी समय चक्रवर्ती और इन्द्रों का वैभव भी मिला, क्या कम पड़ा है? चारों गति के भयंकर दु:खों का वर्णन करने के लिए करोड़ों जीभे कम पड़े, तो क्या वह दु:ख वास्तव में हमने भोगे हैं, ऐसा विश्वास और घोर वेदना ख्याल में नहीं आते है? तो अब जागृत हो! जागृत हो!

''मैं कौन हूँ? आया कहाँ से? और मेरा रूप क्या?
सम्बन्ध दुखमय कौन है? स्वीकृत करूँ परिहार क्या?
इसका विचार विवेकपूर्वक, शान्त होकर कीजिये।
तो सर्व आत्मिक ज्ञान के, सिद्धान्त का रस पीजिये॥''

(...पत्रांक 108)

अनन्त काल से स्वरूप का विस्मरण होने से जीव को अन्यभाव साधारण हो गया है। दीर्घ काल तक सत्संग में रहकर बोधभूमि का सेवन होने से वह विस्मरण और अन्यभाव की साधारणता दूर होती है, अर्थात् अन्यभाव से उदासीनता प्राप्त होती है। यह काल विषम होने से स्वरूप में तन्मयता रहना दुष्कर है; तथापि सत्संग के दीर्घ काल तक सेवन करने से तन्मयता होती है, इसमें सन्देह नहीं होता।

जीवन अल्प है और जंजाल अनन्त है; धन सीमित है, और तृष्णा अनन्त है; इस स्थिति में स्वरूप स्मृति सम्भव नहीं है। परन्तु जहाँ

जंजाल अल्प है, और जीवन अप्रमत्त है तथा तृष्णा अल्प है अथवा नहीं है और सर्व सिद्धि है, वहाँ स्वरूप स्मृति पूर्ण होना सम्भव है। अमूल्य ऐसा ज्ञान जीवन प्रपंच से आवृत्त होकर चला जा रहा है। उदय बलवान है। ***(...पत्रांक 319)***

ऐसी स्थिति है, वहाँ क्या उपाय करना? ऐसा तो क्या किया जाये कि जिससे मैं तृष्णा के गड्ढे में गिरने से बच सकूँ और मुझे मोह की बेड़ियाँ जकड़ न ले? हाँ! इसके लिए यह एक ही वस्तु करनेयोग्य है।

'जिन्दगी छोटी है और जंजाल लम्बी है, इसलिए जंजाल कम कर तो सुखरूप जिन्दगी लम्बी लगेगी।'

अल्प आयु और अनियत प्रवृत्ति, असीम बलवान असत्संग, पूर्व की प्रायः अनाराधकता, बलवीर्य की हीनता—ऐसे कारणों से रहित कोई ही जीव होगा। ऐसे इस काल में, पूर्व काल में कभी भी न जाना हुआ, प्रतीत न किया हुआ, आराधित न किया हुआ और स्वभाव सिद्ध न किया हुआ, ऐसा 'मार्ग' प्राप्त करना दुष्कर हो, इसमें आश्चर्य नहीं है; तथापि जिसने उसे प्राप्त करने के सिवाय दूसरा कोई लक्ष्य रखा ही नहीं, वह इस काल में भी अवश्य उस मार्ग को प्राप्त कर सकता है।

मुमुक्षु जीव लौकिक कारणों में अधिक हर्ष-विषाद नहीं करता।

(...पत्रांक 727)

जिस प्रकार से पुत्रादि सम्पत्ति में इस जीव को मोह होता है, वह प्रकार सर्वथा नीरस और निन्दनीय है। जीव यदि थोड़ा भी विचार करे तो यह बात स्पष्ट समझ में आ सकती है कि इस जीव ने पुत्रपने की भावना करके अपना अहित करने में कोई कसर नहीं रखी और किसी को पिता मानकर भी वैसा ही किया है, और कोई जीव अभी तक तो

पिता-पुत्र हुए हो, ऐसा देखने में नहीं आया। सब कहते आये हैं कि इसका यह पुत्र अथवा इसका यह पिता है, परन्तु विचार करने पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि ये बात किसी भी काल में सम्भव नहीं है। अनुत्पन्न ऐसे इस जीव को पुत्ररूप से मानना अथवा ऐसा मनवाने की इच्छा रखना, यह सब जीव की मूढ़ता है, और यह मूढ़ता किसी भी प्रकार से सत्संग की इच्छा रखनेवाले जीव को करने योग्य नहीं है।

(...पत्रांक 510)

उपजे मोह विकल्प से, समस्त यह संसार;
अन्तर्मुख अवलोकते, विलय होत नहीं देर।

परमयोगी ऐसे श्री ऋषभदेव आदि पुरुष भी जिस देह को नहीं रख सके, उस देह में एक विशेषता रही हुई है, वह यह है कि जब तक उसका सम्बन्ध रहे, उस समय पर्यन्त जीव को असंगता, निर्मोहता प्राप्त करके अबाध्य अनुभवस्वरूप ऐसे निजस्वरूप को जानकर, दूसरे सभी भावों से व्यावृत्त (मुक्त) हो जाना, कि जिससे फिर जन्म-मरण का फेरा न रहे। उस देह को छोड़ते समय जितने अंश में असंगता, निर्मोहता, यथार्थ समरसता रहती है, उतना ही मोक्षपद समीप होता है, ऐसा परम ज्ञानी पुरुषों का निश्चय है। *(...पत्रांक 780)*

सर्व द्रव्य से, सर्व क्षेत्र से, सर्व काल से और सर्व भाव से जो सर्वथा अप्रतिबद्ध होकर निजस्वरूप में स्थित हुए, उन परम पुरुषों को नमस्कार।

जिन्हें कुछ प्रिय नहीं है, जिन्हें कुछ अप्रिय नहीं है, जिनका कोई शत्रु नहीं है, जिनका कोई मित्र नहीं है, जिन्हें मान-अपमान, लाभ-अलाभ, हर्ष-शोक, जन्म-मृत्यु आदि द्वन्द्वों का अभाव होनेसे जो शुद्ध

चैतन्यस्वरूप में स्थित हुए हैं, स्थित होते हैं, और स्थित होंगे, उनका अति उत्कृष्ट पराक्रम सानन्दाश्चर्य उत्पन्न करता है।

देह के प्रति जैसा वस्त्र का सम्बन्ध है, वैसा आत्मा के प्रति देह का सम्बन्ध जिन्होंने यथातथ्य देखा है, म्यान से तलवार का जैसा सम्बन्ध है, वैसा देह से आत्मा का सम्बन्ध जिन्होंने देखा है, अबद्ध-स्पष्ट आत्मा का जिन्होंने अनुभव किया है, उन महत्पुरुषों को जीवन और मरण दोनों समान हैं।

जिस अचिंत्य द्रव्य की शुद्धचितिस्वरूप कान्ति परम प्रगट होकर अचिंत्य करती है, वह अचिंत्य द्रव्य सहज स्वाभाविक निजस्वरूप है, ऐसा निश्चय जिस परमकृपालु सत्पुरुष ने प्रकाशित किया, उनका अपार उपकार है।

चन्द्रमा भूमि को प्रकाशित करता है, उसकी किरणों की कान्ति के प्रभाव से समस्त भूमि श्वेत हो जाती है, परन्तु चन्द्र तो भूमिरूप किसी भी काल में नहीं होता; इसी प्रकार समस्त विश्व का प्रकाशक ऐसा यह आत्मा कभी भी विश्वरूप नहीं होता, सदा-सर्वदा चैतन्यस्वरूप ही रहता है। विश्व में जीव अभेदता मानता है, यही भ्रान्ति है।

जैसे आकाश में विश्व का प्रवेश नहीं है, आकाश सर्व भाव की वासना से रहित ही है, वैसे ही सम्यग्दृष्टि पुरुषों ने प्रत्यक्ष सर्व द्रव्य से भिन्न, सर्व अन्य पर्याय से रहित ही आत्मा देखी है।

जिसकी उत्पत्ति किसी भी अन्य द्रव्य से नहीं होती, ऐसे आत्मा का नाश भी कहाँ से हो ?

मात्र अज्ञान से और स्वस्वरूप के प्रमाद से आत्मा को मृत्यु की

भ्रान्ति है। उसी भ्रान्ति को निवृत्त करके शुद्ध चैतन्य निज अनुभव प्रमाणस्वरूप में परम जागृत होकर ज्ञानी सदैव निर्भय है। इसी स्वरूप के लक्ष्य से सर्व जीवों के प्रति साम्यभाव उत्पन्न होता है। सर्व परद्रव्य से वृत्ति को व्यावृत्त करके आत्मा अक्लेश समाधि को पाता है।

जिन्होंने परमसुखस्वरूप, परमोत्कृष्ट शान्त, शुद्ध चैतन्यस्वरूप समाधि को सर्व काल के लिए प्राप्त किया, उन भगवान को नमस्कार, और जिनका उस पद में निरन्तर लक्षरूप प्रवाह है, उन सत्पुरुषों को नमस्कार।

सर्व से सर्व प्रकार से मैं भिन्न हूँ, एक केवल शुद्ध चैतन्यस्वरूप, परमोत्कृष्ट, अचिंत्य सुखस्वरूप मात्र एकान्त शुद्ध अनुभवरूप मैं हूँ, वहाँ विक्षेप क्या? विकल्प क्या? भय क्या? खेद क्या? दूसरी अवस्था क्या? मैं मात्र निर्विकल्प शुद्ध शुद्ध, प्रकृष्ट शुद्ध परम शान्त चैतन्य हूँ। मैं मात्र निर्विकल्प हूँ। मैं निजस्वरूपमय उपयोग करता हूँ। तन्मय होता हूँ। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः *(...पत्रांक ८३३)*

''जड़ और चेतन्य दोनों द्रव्य का स्वभाव भिन्न,
सुप्रतीतिरूप दोनों, जिन्हें समझाय है;
स्वरूप चेतन निज, जड़ है संबंध मात्र,
अथवा वह ज्ञेय भी तो परद्रव्य मांही है;''

खेद न करते हुए शूरवीरता ग्रहण करके ज्ञानी के मार्ग पर चलने से मोक्षनगर सुलभ ही है। जब विषय-कषाय आदि विशेष विकार करें, तब विचारवान को अपनी निर्वीर्यता देखकर बहुत ही खेद होता है, और आत्मा की बारम्बार निन्दा करता है, पुनः-पुनः तिरस्कार-

वृत्ति से देखकर, पुनः महापुरुष के चरित्र और वाक्य का अवलम्बन ग्रहण करके, आत्मा में शौर्य उत्पन्न करके, उन विषयादि के सामने अति हठ करके उन्हें हटाते हैं; तब तक वे चैन से बैठते नहीं, और केवल खेद करके रुकते नहीं। इसी वृत्ति का अवलम्बन आत्मार्थी जीवों ने लिया है; और इसी से ही अन्त में विजय पायी है। यह बात सभी मुमुक्षुओं को मुखपाठ करके हृदय में स्थिर करने योग्य है।

(...पत्रांक 819)

इस प्रकार सत्पुरुषों ने मार्ग तो बता दिया है, अब मुझे उस पर ही चलना है। शुभस्य शीघ्रं की भाँति शौर्य उपजाकर, वीर्य स्फुरित करके ज्ञानी के मार्ग में प्रयाण शुरु करना है। अपूर्व अवसर ऐसा कब आयेगा... ?

''अपूर्व अवसर ऐसा किस दिन आयेगा,
कब होऊँगा बाह्यान्तर निर्ग्रन्थ जब।
सम्बन्धों का बन्धन तीक्ष्ण छेद कर,
विचरूँगा कब महत्पुरुष के पंथ जब॥
अपूर्व अवसर ऐसा किस दिन आयेगा॥''

कर्मगति विचित्र है। निरन्तर मैत्री, प्रमोद, करुणा और उपेक्षा भाव रखना।

मैत्री अर्थात् सर्व जगत से निर्वैरबुद्धि; प्रमोद अर्थात् किसी भी आत्मा के गुण देखकर हर्षित होना; करुणा अर्थात् संसारताप से दुःखी आत्मा के दुःख के प्रति अनुकम्पा करना; और उपेक्षा अर्थात् निःस्पृहभाव से जगत के प्रतिबन्ध को त्यागकर आत्महित में आना। ये भावनाएँ कल्याणमय और पात्रता देनेवाली हैं। ***(...पत्रांक 57)***

जगत आत्मरूप मानने में आये, जो हो रहा है वह योग्य ही मानने में आये, पर के दोष देखने में न आये, अपने गुणों की उत्कृष्टता सहन करने में आये, तो ही इस संसार में रहना योग्य है, दूसरी रीति से नहीं।

(...पत्रांक 301)

इस प्रकार अब मुझे ज्ञानी के इन वचनों को हृदय में स्थापित करके मेरे इस जन्म को सार्थक करने से ही छुटकारा है।

अब चाहे कैसा भी उदयप्रसंग प्राप्त होवे, तब भी मैं विवेक-बुद्धिपूर्वक, अन्तर के रसपूर्वक छूटने की तीव्र लगनपूर्वक, सत्पुरुष के वचनों को ग्रहण करूँगा। उसका ही अमल करने के लिए फिर से प्रयत्नशील होऊँगा और प्राप्त योग को सार्थक करूँगा। श्रद्धा में यह विश्वास आया है तो नि:शंकरूप से निराशा और हताशा का लोप करके, ज्ञानी के दर्शाये हुए, मुक्ति के महामार्ग में प्रवेश करने के लिए अब मुझे अन्त:करणपूर्वक क्षमायाचना करनी चाहिए और ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह के पालन के लिए कटिबद्ध होना चाहिए। भूतकाल की भूलों का सच्चा प्रायश्चित्त ही विभाव की आड़ी-टेड़ी गली-कूचों की भूल-भूलैया की भूतावली में से मुझे छुड़ा सकेगी। क्योंकि 'क्षमा ही मोक्ष का भव्य द्वार है।'

बस, अब तो मैं अभय होकर संजीवनीरूप ज्ञानी की मंगल देशना को हृदय में स्थापित करके बारम्बार मनन और चिन्तवन की पावन गंगा के साथ, आत्मिक कल्याण की आनन्दमय आराधना का प्रयाण प्रारंभ करता हूँ।

* * *

क्षमापना

हे भगवान! मैं बहुत भूल गया, मैंने आपके अमूल्य वचनों को लक्ष में नहीं लिया। आपके कहे हुए अनुपम तत्त्वों का मैंने विचार नहीं किया। आपके प्रणीत किये हुए उत्तम शील का सेवन नहीं किया। आपकी प्ररूपित की हुई दया, शान्ति, क्षमा और पवित्रता को मैंने नहीं पहचाना। हे भगवन्! मैं भूला, भटका, घूमा-फिरा और अनन्त संसार की विडम्बना में पड़ा हूँ। मैं पापी हूँ। मैं बहुत मदोन्मत्त और कर्मरज से मलिन हूँ। हे परमात्मा! आपके कहे हुए तत्त्वों के बिना मेरा मोक्ष नहीं है। मैं निरन्तर प्रपंच में पड़ा हूँ, अज्ञान से अन्ध हुआ हूँ, मुझमें विवेकशक्ति नहीं है और मैं मूढ़ हूँ, मैं निराश्रित हूँ, अनाथ हूँ।

नीरागी परमात्मा! मैं अब आपकी, आपके धर्म की और आपके मुनियों की शरण लेता हूँ। मेरे अपराध क्षय होकर मैं उन सब पापों से मुक्त होऊँ, यही मेरी अभिलाषा है। पूर्वकृत पापों का मैं अब पश्चात्ताप करता हूँ। ज्यों-ज्यों मैं सूक्ष्म विचार से गहरा उतरता हूँ, त्यों-त्यों आपके तत्त्वों के

चमत्कार मेरे स्वरूप का प्रकाश करते हैं। आप नीरागी, निर्विकारी, सच्चिदानन्दस्वरूप, सहजानन्दी, अनन्त ज्ञानी, अनन्तदर्शी और त्रैलोक्य प्रकाशक हो।

मैं मात्र अपने हित के लिये आपकी साक्षी में क्षमा चाहता हूँ। एक पल भी आपके कहे हुए तत्त्वों में शंका न हो, आपके बताये हुए मार्ग में अहोरात्र मैं रहूँ, यही मेरी आकांक्षा और वृत्ति हो! हे सर्वज्ञ भगवान! आपसे मैं विशेष क्या कहूँ? आपसे कुछ अज्ञात नहीं है। मात्र पश्चात्ताप से मैं कर्मजन्य पाप की क्षमा चाहता हूँ।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

(शिक्षापाठ, पृष्ठ 101)

''अहो! अहो! श्री सद्गुरु, करुणासिन्धु अपार;
इस पामर पर प्रभु किया, अहो! अहो! उपकार।
क्या प्रभु चरण निकट धरुं, आत्मा से सब हीन;
वह तो प्रभु ने ही दिया, वर्तुं चरणाधीन।
यह देहादि आज से, वर्ते प्रभु आधीन;
दास, दास मैं दास हूँ, आप प्रभु का दीन।
षट्स्थानक समझायकर, भिन्न बताया आप;
म्यान मांही तलवारवत्, यह उपकार अमाप।
जो स्वरूप समझे बिना, पाये दुःख अनन्त;
समझाया वह पद नमुं, श्री सद्गुरु भगवंत।
परम पुरुष प्रभु सद्गुरु, परम ज्ञान सुखधाम;
जिनने दिया हैं भान निज, उनको सदा प्रणाम।
देह रहत जिनकी दशा, वर्ते देहातीत;
वे ज्ञानी के चरण में, हो वन्दन अगणित।
कृपालुदेव के चरण में, हो वन्दन अगणित।
कहानगुरु के चरण में, हो वन्दन अगणित।
भगवतीमात के चरण में, हो वन्दन अगणित।
सर्व ज्ञानी के चरण में, हो वन्दन अगणित।''

શ્રીમદ્ રાજચંદ્રજીનો અંતિમ સંદેશ
પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજી સ્વામીનાં હસ્તાક્ષરમાં

ॐ शांतिः

ॐ सहजात्मस्वरूपाय नमः

ઈચ્છે છે જે જોગી જન, અનંત સુખસ્વરૂપ;
મૂળ શુદ્ધ તે આત્મપદ, સયોગી જિનસ્વરૂપ. ૧

આત્મસ્વભાવ અગમ્ય તે, અવલંબન આધાર;
જિનપદથી દર્શાવિયો, તેહ સ્વરૂપ પ્રકાર. ૨

જિનપદ નિજપદ એકતા, ભેદભાવ નહિ કંઈ;
લક્ષ પદાને તેહનો, કહ્યાં શાસ્ત્ર સુખદાઈ. ૩

જિનપ્રવચન દુર્ગમ્યતા, થાકે અતિ મતિમાન;
અવલંબન શ્રી સદ્ગુરુ, સુગમ અને સુખખાણ. ૪

ઉપાસના જિનચરણની, અતિશય ભક્તિ સહિત;
મુનિજન-સંગતિ રતિ અતિ, સંયમ યોગ ઘટિત. ૫

ગુણપ્રમોદ અતિશય રહે, રહે અંતર્મુખ યોગ;
પ્રાપ્તિ શ્રી સદ્ગુરુ તણી, જિનદર્શન અનુયોગ. ૬

પ્રવચન-સમુદ્ર બિંદુમાં, ઊલટી આવે એમ;
પૂર્વ ચૌદની લબ્ધિનું, ઉદાહરણ પણ તેમ. ૭

વિષય વિકાર સહિત જે, રહ્યા મતિના યોગ;
પરિણામની વિષમતા, તેને યોગ અયોગ. ૮

મંદ વિષય ને સરળતા, સહ આત્મા સુવિચાર;
કરુણા કોમળતાદિ ગુણ, પ્રથમ ભૂમિકા ધાર. ૯

રોક્યા શબ્દાદિક વિષય, સંયમ સાધન રાગ;
જગત ઈષ્ટ નહિં આત્મથી, મધ્ય પાત્ર મહાભાગ્ય. ૧૦

નહિ તૃષ્ણા જન્મ્યા તથી, મરણયોગ નહિ ક્ષોભ;
મહાપાત્ર તે માર્ગના, પરમ યોગ જિતલોભ. ૧૧

આવે બહુ સમ દેશમાં, છાયા જાય સમાઈ;
આવે તેમ સ્વભાવમાં, મન સ્વરૂપ પણ જાઈ. ૧૨

ઊપજે મોહ વિકલ્પથી, સમસ્ત આ સંસાર;
અંતર્મુખ અવલોકતાં, વિલય થતાં નહિ વાર. ૧૩

औषध . . . भवरोग की

"सार्थक्य"

गहन जंगल में दावानल सुलग उठे और अनेक प्राणी जल मरे, तापाग्नि में सिककर अपार पीड़ा प्राप्त करे... उसी प्रकार अनन्त जीव इस संसार में आधि, व्याधि और उपाधि के अनन्त प्रकार के दुःख भोगते हुए अनादि से चारों गति में परिभ्रमण करते हैं।

यदि ऐसी अपार वेदना से थकान का अनुभव हुआ हो और सुख की अभिलाषा होने पर भी सुख का उपाय कहीं न प्राप्त होता हो, तो भव रोग की इस औषधी को एक बार ग्रहण करके देखो।

'सत्' का संशोधन करके, प्राप्त करके और सुख का अनुभव करके सत्पुरुष, अपार करुणा करके, जीवों को सुख का मार्ग बतलाते हैं।

ऐसे ही एक अर्वाचीन अध्यात्म सूर्य, स्वानुभवी, एकावतारी, करुणा सागर सत्पुरुष **श्रीमद् राजचन्द्रदेव (परम कृपालुदेव)** द्वारा प्रकाशित किया हुआ सत्सुख का मार्ग इस C.D. के माध्यम से त्रिविध तापाग्नि से त्रस्त और सुख के अभिलाषी जीवों को पथदर्शक हो, इस प्रयोजन से प्रसारित करने में आया है।

इन पथदर्शक वचनों को, शारीरिकरूप से अस्वस्थता और पीड़ा अनुभव करते हुए भव्य जीव, एकाग्रता से सुनकर, समझकर, विचारकर अन्तरश्रद्धा में अवधारण कर, सुख का मार्ग शीघ्र पकड़े.... वो ही वास्तविक प्रयोजनसिद्धि और वो ही सच्चा "**सार्थक्य**".....

प्राप्ति स्थान :
श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट
302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.,
वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट), मुम्बई-400056.
☎ 022-2613 0820 ✉ info@vitragvani.com
www.vitragvani.com www.facebook.com/vitragvanee